सतीश चंद्र

इतिहास में सामासिकता की खोज

नरेश गोस्वामी

भारत के मध्यकालीन इतिहास-लेखन को अपनी विशिष्ट प्रस्थापनाओं से समृद्ध करने वाले इतिहासकार सतीश चंद्र (20 नवम्बर, 1922– 13 अक्तूबर, 2017) एक ऐसे दौर में हमसे बिछुड़े हैं जब सत्ता-प्रतिष्ठान की शह पर इतिहास का अध्ययन साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों और विचारधारात्मक दुराग्रहों, अय्यारी, मक्कारी, मनगढ़ंत कथाओं और मिथकों का घालमेल बन कर रह गया है।

सतीश चंद्र ने अपने इतिहास-चिंतन में अप्रिय तथ्यों पर पर्दा डालने की कोशिश नहीं की। उन्होंने मध्यकाल के अंतर-धार्मिक सांस्कृतिक द्वंद्वों को भारतीय समाज की एकता और अखण्डता के आश्वस्तिकारी फ़ारमूलों में बदलने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने इस अवधि में युद्धों की उपस्थिति, उदार और संकीर्ण शासकों की मिसालों, हिंसा और रक्तपात; मुसलमान शासकों द्वारा कई अवसरों पर धर्मांतरण की नीतियाँ अपनाए जाने और हिंदू प्रजा के प्रति दमनकारी रवैया अख़्तियार करने जैसे तथ्यों से कभी इनकार नहीं किया। लेकिन सतीश चंद्र की यही स्वीकारोक्ति उन्हें घटनाओं का कथा-वाचक बनने के बजाय इन घटनाओं के पीछे और नीचे बहती चालक-शक्तियों तथा सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं के अंतर्ग्रंथित अध्ययन की ओर लेकर गयी। बृहत्तर के इस सूक्ष्म संधान से वे इस निष्पत्ति पर पहुँचे कि इस काल में दमन और द्वंद्व के समानांतर समायोजन, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, नयी जातीयताओं, प्रवृत्तियों और तत्त्वों के स्थानीकरण और आत्मसातीकरण की प्रक्रियाएँ भी मज़बूत हो रही थीं जिनसे भाषा, संस्कृति, कला, स्थापत्य और साहित्य के क्षेत्र में एक साझी ज़मीन तैयार हो रही थी। ग़ौर से देखें तो इतिहास-लेखन की यह दृष्टि पूर्व-धारणाओं के आधार पर लिखे जाने वाले इतिहास का प्रत्याख्यान करते हुए इस नुक़्ते पर ज़ोर देती है कि तथ्यों को उनके सामाजिक-आर्थिक संदर्भों में संसाधित किया जाना चाहिए।

इतिहास की परिघटनाओं की व्याख्या के सूत्रों को सामाजिक–आर्थिक प्रक्रमों में ढूँढ़ने का यह नज़रिया सतीश चंद्र ने अपनी अकादमिक यात्रा के शुरुआती दौर में ही विकसित कर लिया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बीए (1942) और एमए (1944) के बाद प्रोफ़ेसर रमाप्रसाद त्रिपाठी ने उन्हें प्रशासनिक सेवा में जाने के बजाय मध्यकालीन इतिहास में शोध करने के लिए प्रेरित किया। ग़ौरतलब है कि मध्यकालीन इतिहास के एक अन्य दिग्गज इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार (1875–1958) ने अपने बहुखण्डीय अध्ययन *फ़ाल ऑफ़ मुग़ल एम्पायर* (1932) में मुग़ल साम्राज्य के पतन को औरंगज़ेब की हिंदू-विरोधी नीतियों का परिणाम बताया था। रमाप्रसाद त्रिपाठी ने सतीश चंद्र से इसरार किया कि वे अपने शोध में अठारहवीं सदी के पहले पचास वर्षों की पड़ताल करके पता लगाएँ कि जदुनाथ सरकार का यह निष्कर्ष किस सीमा तक वैध माना जा सकता है।

सतीश चंद्र ने जदुनाथ सरकार के निष्कर्ष को उलटा घुमाते हुए इस बात पर ज़ोर दिया कि औरंगज़ेब की धार्मिक नीति इस संकट का कारण नहीं बल्कि इसका परिणाम थी। यह बात आज भी देखी जा सकती है कि जैसे ही कोई सत्ता आर्थिक संकट में घिरने लगती है तो वह अक्सर धर्म में आश्रय ढूँढ़ती है।

मोहम्मद सज्ज़ाद बताते हैं कि जदुनाथ सरकार को जब इस बात का पता चला कि एक नौजवान इतिहासकार उनके निष्कर्ष और निष्पत्तियों से सहमत नहीं है और वह इस दिशा में नये ढंग से सोचना चाहता है तो उन्होंने सतीश चंद्र को न केवल अपने निजी पुस्तकालय का उपयोग करने की अनुमति दी बल्कि यह परामर्श भी दिया कि इस अध्ययन के लिए बाक़ी स्रोत कहाँ–कहाँ मिल सकते हैं। वैचारिक–बौद्धिक क्षेत्र में विनम्र संवाद का यह दृष्टांत आज एक अजूबा लगता है।

सतीश चंद्र ने अपने शोध— *पार्टीज़ ऐंड पॉलिटिक्स ऐट द मुग़ल कोर्ट– 1707–1740* में इस अवधि के आर्थिक कारकों का सूक्ष्म अध्ययन करके यह प्रतिपादित किया कि मुग़ल साम्राज्य का पतन जागीरदारी व्यवस्था में उभरे संकट का परिणाम था। उन्होंने बताया कि मुग़लों का राजनीतिक–प्रशासनिक ढाँचा जागीर और मनसब जैसी संस्थाओं पर टिका था। इन दोनों संस्थाओं की कार्यकुशलता राजस्व के संग्रह और वितरण पर निर्भर करती थी। औरंगज़ेब के आख़िरी दौर में यह व्यवस्था बिखरने लगी और राज्य वित्तीय संकट में घिरता चला गया। उमरा (आभिजात्य) वर्ग में आर्थिक रूप से ज़्यादा कमाऊ जागीरों के लिए होड़ मचने लगी और इस क्रम में केंद्र के प्रति उनकी निष्ठा कमज़ोर पड़ने लगी।

इस तरह सतीश चंद्र ने जदुनाथ सरकार के निष्कर्ष को उलटा घुमाते हुए इस बात पर ज़ोर दिया कि औरंगज़ेब की धार्मिक नीति इस संकट का कारण न होकर इसका परिणाम थी। यह बात आज भी देखी जा सकती है कि जैसे ही कोई सत्ता आर्थिक संकट से घिरने लगती है तो वह अक्सर धर्म में आश्रय ढूँढ़ती है। इस संबंध में सतीश चंद्र का यह तर्क क़ाबिले–ग़ौर था कि औरंगज़ेब ने ज़ज़िया जैसा भेदभावपूर्ण कर गद्दी पर बैठने के बाईस साल बाद लागू किया था। यानी अगर औरंगज़ेब हिंदुओं के प्रति धार्मिक विद्वेष रखता था तो वह इस प्रकार की नीति सत्तारोहण के तुरंत बाद भी लागू कर सकता था। ऐतिहासिक व्याख्या की दृष्टि से यह निष्पत्ति एक नये परिप्रेक्ष्य की ओर इंगित करती है जिसमें शासक के व्यक्तिगत गुण–दोषों के बजाय राज्य के आधारभूत ढाँचे में उभरी विसंगतियों पर ज़्यादा ध्यान दिया जाता है।

बदलते राजनीतिक विन्यास और बृहत्तर सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन पर आधारित यह शोध आज भी एक मानक की तरह देखा जाता है। वह सिर्फ़ मुग़ल साम्राज्य के पतन की वैकल्पिक व्याख्या ही नहीं करता बल्कि मराठा और जाटों जैसी क्षेत्रीय राजनीतिक शक्तियों के उभार की संरचनात्मक व्याख्या भी करता है।

सतीश चंद्र का जन्म मेरठ में हुआ था। उनके पिता सर सीताराम पाकिस्तान में भारत के पहले उच्चायुक्त थे। उनकी पूरी शिक्षा इलाहाबाद में हुई। इलाहाबाद से अलीगढ़, जयपुर तथा अंततः दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय तक फैला उनका अध्यापकीय और प्रशासकीय जीवन ऐतिहासिक शोध के श्रेष्ठ मानदण्डों और कार्यक्षेत्र में दूरगामी और स्थायी योगदान की मिसाल पेश करता है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय से 1948 में अपना शोध पूरा करने और कुछ समय तक वहीं अध्यापन करने के बाद सतीश चंद्र का अगला मुक़ाम अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी हुआ, जहाँ उन्होंने 1953 से लेकर 1962 तक अध्यापन किया। अपने अलीगढ़ प्रवास के दौरान उन्होंने फ़ारसी की एक पुस्तक *बालमुकुंदनामा* प्रकाशित की। उल्लेखनीय है कि अठारहवीं सदी के राज्य-निर्माताओं पर केंद्रित इस प्राथमिक स्रोत का उपयोग पहली बार सतीश चंद्र ने ही किया था।

अलीगढ़ के बाद जब सतीश चंद्र ने जयपुर का रुख़ किया तो कुछ ही समय बाद वहाँ के इतिहास-विभाग का कायापलट हो गया। एक अनजाना और अपरिचित विभाग नयी शोध-दृष्टि और संकल्पनाओं का केंद्र बन गया। यहाँ रहते हुए उन्होंने राजस्थानी भाषाओं के स्रोतों पर आधारित क्षेत्रीय इतिहास-लेखन को एक नयी दिशा प्रदान की। अपने इस कार्यकाल में उन्होंने क्षेत्रीय दस्तावेज़ों के संरक्षण हेतु कई स्थानों पर अभिलेखागार भी स्थापित करवाए।

सतीश चंद्र ने अपने इतिहास-चिंतन में अप्रिय तथ्यों पर पर्दा डालने की कोशिश नहीं की। उन्होंने मध्यकाल के अंतर-धार्मिक सांस्कृतिक द्वंद्वों को भारतीय समाज की एकता और अखण्डता के आश्वस्तिकारी फ़ारमूलों में बदलने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने इस अवधि में युद्धों की उपस्थिति, उदार और संकीर्ण शासकों की मिसालों, हिंसा और रक्तपात; मुसलमान शासकों द्वारा कई अवसरों पर धर्मांतरण की नीतियाँ अपनाए जाने और हिंदू प्रजा के प्रति दमनकारी रवैया अख़्तियार करने जैसे तथ्यों से कभी इनकार नहीं किया।

सातवें दशक में जब दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी तो उन्हें मध्यकालीन इतिहास की बागडोर सौंपी गयी। उनके अकादमिक अवदान को देखते हुए यह सही और ज़रूरी फ़ैसला था। लेकिन जल्दी ही उन्हें पहले विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का उपाध्यक्ष और बाद में अध्यक्ष नियुक्त कर दिया गया। अपनी इस प्रशासनिक व्यस्तता के बावजूद उन्होंने मराठों के उदय और भक्ति आंदोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि पर महत्त्वपूर्ण काम किया।

तैमूर की विरासत पर केंद्रित अपने एक अन्य महत्त्वपूर्ण अध्ययन में उन्होंने यह दिखाया कि मध्य तथा पश्चिमी एशियाई क्षेत्रों में शासकीय और सामाजिक संगठन के सिद्धांतों की एक समृद्ध परम्परा विकसित हुई थी जिससे बाद में भारत भी लाभान्वित हुआ। उनके मुताबिक़ मुग़लों ने राज्य के जिस सेकुलर ढाँचे पर अमल किया वह तैमूरी परम्परा से ही विकसित हुआ था। इसी तरह अपने एक दूसरे शोध-लेख में उन्होंने 'सिल्क रोड' के नामकरण पर आपत्ति करते हुए तर्क दिया था कि इस व्यापार-मार्ग का दक्षिण-पश्चिमी भाग भारत से निर्यात किये जाने वाले सूती कपड़ों के लिए जाना जाता था, इसलिए वह सिर्फ़ एक व्यापार-मार्ग के बजाय व्यापार के एक नेटवर्क की ओर ज़्यादा इशारा करता था।

सतीश चंद्र इतिहास-लेखन की औपनिवेशिक धारा की बहरूपिया प्रवृत्तियों पर हमेशा नज़र रखते थे। ग़ौरतलब है कि औपनिवेशिक शासन के साथ हमदर्दी रखने वाले इतिहासकार कुछ हेरफेर के साथ यह बात हमेशा कहते हैं कि भारत में अंग्रेज़ों का शासन एक राहत की तरह आया था। ऐसे कई इतिहासकार यह सवाल पूछने के बजाय कि भारत जैसे उपनिवेश औद्योगिक विकास का स्वतंत्र रास्ता क्यों नहीं चुन पाए, सवाल को इस तरह पेश करते थे कि पूर्व-उपनिवेशों में औद्योगिक पूँजीवाद इतनी देरी से क्यों

पहुँचा! इतिहास-लेखन के इस परिप्रेक्ष्य के प्रति सतीश चंद्र का नज़रिया सदा सख़्त बना रहा।

बाहरी और स्थानीय राजनीतिक शक्तियों के संघर्ष की विस्तृत पड़ताल करते हुए सतीश चंद्र ने यह भी लक्षित किया कि अठारहवीं सदी में मुग़ल तथा अन्य भारतीय सत्ताओं की हार इसलिए नहीं हुई क्योंकि उनकी युद्ध-रणनीति पुरानी पड़ गयी थी, बल्कि उनकी पराजय का कारण यह था कि उन्होंने नौसेना के विकास पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। बाद के वर्षों में भारतीय इतिहास के इस पहलू पर उनका विशेष ध्यान रहा। समुद्रीय व्यापार और राजनीति के अंतर्संबंधों के अध्ययन को सांस्थानिक ढाँचा प्रदान करने के लिए उन्होंने सेंटर फ़ॉर इण्डियन ऑशन स्टडीज़ नामक संस्था की नींव रखी।

यह एक विलक्षण बात है कि साठ-पैंसठ वर्षों के सक्रिय जीवन में उन्होंने अपने अकादमिक योगदान से केवल मध्यकालीन इतिहास को ही समृद्ध नहीं किया बल्कि विभिन्न प्रशासनिक ज़िम्मेदारियों का भी इतनी ही कुशलता से निर्वाह किया। शैक्षिक संस्थाओं में वैचारिक असहमति के मूल्य को ज़िंदा रखने में उनकी भूमिका अप्रतिम रही। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष के तौर पर एक तरफ़ उन्होंने अध्यापकों को विश्वविद्यालय के प्रशासन की आलोचना करने का अधिकार दिलाया तो दूसरी तरफ़ नये शोधार्थियों के लिए जूनियर रिसर्च फेलोशिप की व्यवस्था की। उनकी प्रतिबद्धताओं के स्मारक के रूप में ये दोनों चीज़ें आज भी क़ायम हैं।